लोक झलक के बिंदु

भारत का लिखित वांग्मय जितना पुराना और समृद्ध है, उतना ही या उससे अधिक यहाँ का मौखिक साहित्य भी प्राचीन और संपन्न है। इसमें विविधताओं की अनंतता है। समय-प्रवाह के साथ बोलियों-भाषाओं का अस्तित्व बनता-बिगड़ता रहा है, अनेक बोलियाँ काल कवलित हुई हैं तो कुछएक का पल्लवन और उन्नयन हुआ है। ज्यादातर बोलियों में भले ही साहित्य-रचना न हुई हो, पर जीवन-व्यवहार के बहुलांश कार्य बहुआयामी स्तर पर संपन्न हुए हैं। अपने स्थानीय रूढ़पन एवं सिकुड़ी क्षेत्रावधि के कारण सब बोलियों में साहित्य-सृजन न अभिप्रेत हो सकता था और न संभव ही, लेकिन जमीनी धरातल के सभी कार्य बोलियों में ही संपन्न होते हैं, चाहे वे भाषा के ही बोली रूप में क्यों न हों। व्यवहार के बिना जीवन जीना असंभव है, जबकि लेखन उसके बाद का उपक्रम है और इस प्रकार द्वितीयक है। लोक के नवांकुरण के साथ लोक जरूरतों के अनुरूप संकेतात्मक कोडों तथा हाव-भावों के माध्यम से वार्ता की शैलियाँ विकसित हुईं। तदुपरांत, लोक-बोलियों का अस्तित्व सामने आया। धीरे-धीरे इनमें व्यवस्था बनी और कुछएक का सुव्यवस्थित भाषा-रूप निखरा। प्रबंधीकरण के इसी क्रम में अभिव्यंजना की विभिन्न प्रयुक्तियों के तौर पर ठेठ लोकवार्ता और अनगढ़ लोक साहित्य स्वतः पनपने लगा। जनरुचि की अपार संभावनाओं को समेटे लोकवार्ता और लोक साहित्य में मनोरंजन के साथ उपदेश एवं प्रेरणास्पद शिक्षाएँ सम्मिलित होती गईं। जैसे-जैसे लोक का दायरा विस्तृत होता गया, वैसे-वैसे लोकवार्ता की परिसीमाएँ बदलती और बढ़ती गईं। सामूहिक संवेद्यता, संप्रेषणीयता एवं ग्रहणीयता का पहला जनसंचार नमूना लोकवार्ता, लोक साहित्य ही है। यह संवाद का प्रबल व विस्तीर्ण माध्यम है, जिनमें प्रकृति का गोचर-अगोचर, चर-अचर, जड़-चेतन सब कुछ संयोजित है; सबके आपसी संवाद की अनुगूँज है लोकवार्ता और उसका लोक साहित्य वाला खंड। पार्थक्यपूर्ण स्थानीय संवेदना के साथ इसमें वैश्विक-सार्वभौमिक स्वर सन्निहित है, क्योंकि नितांत निचले स्तर के सीमित क्षेत्र की बुनियाद का आधार भी ब्रह्मांडीय ऊर्जा-तत्व ही है। इसलिए लोक साहित्य को जनपदीय कहा जाए या फिर ग्रामीण अथवा शिष्ट समाज से बहुत दूर का माना जाए, किंतु समय विशेष में यही शिष्टता का साक्ष्य रहा है और उसकी आधान-भूमि भी।

हिंदी और उसकी बोलियों का क्षेत्रीय विस्तार उत्तर भारत के राज्यों उत्तर प्रदेश, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, बिहार, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, उत्तराखंड, हिमाचल प्रदेश, कश्मीर, झारखंड तक है। इन्हें बोलने वाले अन्य प्रदेशों तथा विदेशों में भी रहते हैं। इनमें व्यवहृत लगभग दो दर्जन बोलियों - भोजपुरी, मैथिली, मगही, अंगिका, बज्जिका, ब्रजभाषा, अवधी, खड़ी बोली, गढ़वाली, कुमायूँनी, छत्तीसगढ़ी, निमाड़ी, डोगरी, संथाली, राजस्थानी, मालवी, मेवाती, बाँगरू-हरियाणवी, हिमाचली आदि के लोक साहित्य का विपुल भंडार है। कुछ बोलियों जैसे अवधी, ब्रजभाषा, मैथिली, हिमाचली, कुमायूँनी, राजस्थानी, डोगरी आदि में लिखित साहित्य की परंपरा पुरानी है और अतीव समृद्ध भी है, तो वहीं भोजपुरी, गढ़वाली, मालवी, हरियाणवी आदि में वाचिक-मौखिक साहित्य का अथाह भंडार मिलता है। जिन बोलियों का शिष्ट कहा जाने वाला साहित्य समृद्ध है, उनमें भी लोक साहित्य तो है ही। बोलियों की विधागत लोक रचनाओं में विषय-वस्तु का आपसी साम्य भी है और वैषम्य भी है। समानता-असमानता भाव और रूप दोनों स्तरों पर दिखती है और सबका अपना वैशिष्ट्य भी उजागर हुआ है। लोकगीत लोक साहित्य का सर्वप्रमुख अंग है, जो लोक-रीतियों और संस्कार विधान के अवसरों पर गाया जाता है। इस पर आधुनिकता का रंग चढ़ा अवश्य है, पर आजकल भी बड़े से बड़े शहरों-महानगरों में शादी-विवाह और व्रत-पर्व के समय ठेठ गँवई-देहाती लोकगीत सुनने को मिल जाते हैं, निस्संदेह इनमें नई तकनीक का इस्तेमाल भी हुआ होता है। परंपरागत लोकगीत ज्यादातर संस्कार गीत ही हैं, लेकिन भक्ति, धर्म, अध्यात्म, श्रम, जाति-पेशा, प्रवास-पलायन, शृंगार-सौंदर्य से संबंधित लोकगीत भी कम नहीं हैं। स्वतंत्रता आंदोलन और स्वदेशी की भावना से रचे गए लोकगीत जनमानस में छाते गए। धीरे-धीरे समसामयिक महत्त्व के मुद्दों यथा महँगाई, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार आदि को केंद्रित करके लोकगीतों का निर्माण हुआ। सनातनी परंपरा में जिन सोलह संस्कारों का विधान है, उनमें प्रत्येक विधान-उपविधान से लोकगीत अभिन्नतः सन्नद्ध हैं या यों कहें कि बिना गीत के संस्कार संपन्न नहीं होते तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। सोलह संस्कारों में गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यंत तक के संस्कार हैं। एक संस्कार के अंतर्गत अनेक उपसंस्कार, उपरीत, उपविधान का रिवाज हैं। सभी संस्कारों और उनके अंतर्गत होने वाले उपसंस्कारों के लिए बहुतायत में परंपरागत संस्कार गीत प्रचलित हैं और समयानुरूप बनते भी जाते हैं। हरएक विध के साथ गाए जाने वाले गीतों में उस विध का सीधा प्रसारण होता है और उसकी महत्ता बताई जाती है। इससे माहौल को रीतिमय बनाने में सहायता मिलती है, ध्यान कहीं और नहीं जाता। गीत को सुनकर दूर से जाना जा सकता है कि संस्कार का कौन-सा चरण या रीति चल रही है। दुख की घड़ी में भी गीत गाकर उसे कम करने और जीवटता से झेल लेने की परिपाटी लोकगीतों की देन है। इनमें विषाद को मिटाने, शोक को समेटने एवं दुख को मेटने वाले प्रेरक तत्व विद्यमान होते हैं। ये आह को औदात्य रूप देते हैं। ऋतुओं का स्वागत कैसे होना चाहिए, पर्व-उत्सवों में उल्लास कैसे व्यक्त करना चाहिए, नित्य विधान कब क्या हो, भजन-कीर्तन जीवन से कैसे जुड़ें - यह लोकगीतों से बेहतर कहाँ समझा जा सकता है, जो लोक का मनोरंजन करते हैं और जीवन को सारग्राही संदेश भी देते हैं। इनमें परंपरागत प्रचलित कुरीतियों को भी स्वर मिला है, पर वहाँ भी सहजता-स्वाभाविकता से सतर्क करने की ताकत विद्यमान है। गीतों की प्रवृत्त्यात्मक विद्यमानता तो लोकगाथाओं में है ही, लोकनाटकों और अंशतः लोककथाओं में भी है। इन सबमें गेयता अनिवार्य रही है, तभी प्रभावोत्पादकता आती है। बहुत सारी गीतात्मक पंक्तियाँ किंवदंति, लोकोक्ति, पहेली के रूप में समाज में रूढ़ हैं।

लोकगाथाएँ आम तौर पर पौराणिक एवं मिथकीय आख्यानों पर आधारित हैं, जिनमें भक्तिपरकता, योग, वैराग्य, वीरत्व भाव तथा प्रेमकथात्मकता का प्राबल्य है। पुरा कथाओं, ऐतिहासिक इत्तिवृत्तों में स्थानीय परंपराओं-मान्यताओं के कारण उलटफेर मिलता है, जो दूसरे स्थान की जनश्रुतियों से अलग है और कई जगह पौराणिक तथ्यों के विपरीत भी है। वीरतापरक गाथाओं में लोकनायकों के त्याग, बलिदान, साहस, शौर्य, पराक्रम द्वारा यश-कीर्ति के फैलने का चित्रण है। नायक की दृढ़ता, निर्भीकता, युद्धप्रियता, चातुर्य, धैर्य, दया, धर्म, शरणागत भाव, आतिथ्य सत्कार के अतिरिक्त अपनी जान को जोखिम में डालकर दूसरों की रक्षा करने का कार्य और सत्प्रण निभाने का वृत्तांत मिलता है। स्त्रियों के आत्मबलिदान और सती होने की गाथाएँ भी बहुसंख्या में हैं। प्रेमाख्यानक गाथाओं में

नायक-नायिका की देहयष्टि, प्रणय संबंध, देव कुल एवं नाग कुल से शादी-संबंध के अलावे संयोग-वियोग की सभी अंतर्दशाओं का चित्रांकन है। इनमें गहरा ज्ञान और भाव-संदेश अंतर्निहित है। उपदेशात्मकता एवं मनोरंजकता का अद्‌भुत समावेश है। ये रोचक ढंग से ऐतिहासिक घटनाओं से परिचित कराती हैं, जिन्हें अधिकतर पेशेवर गायकों द्वारा गाया जाता है। आरंभ में सुमिरन होता है, फिर योग, जादू-टोने से संबंधित गाथाओं में मंत्रों द्वारा दिशाओं को बाँधा जाता है, ताकि वहाँ डायन, भूत-प्रेत सहित किसी अनिष्ट शक्ति का प्रवेश न हो सके। आम तौर पर अलौकिक तथा दिव्य शक्तियों का अनुष्ठान होता है उनकी अनुकंपा के लिए। उनके आशीर्वाद से ही लक्ष्य-सिद्धि होती है। आँचलिकता का पुट मिला होता है और इसलिए स्थानीय रीति-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन की झाँकी मिलती है। गायक सुविधानुसार कथाओं को ढालते हैं। कथाएँ प्रायः बड़ी होती हैं, लेकिन गेयता की बदौलत रसमयता-भावमयता बनी रहती है।

लोकनाटकों के विविध रूप हिंदी क्षेत्र में प्रदर्शित होते हैं। मनोरंजन के लिए ये प्राचीन काल से प्रचलित रहे हैं। पूजा, उत्सव, मेला, पर्व आदि के बीच से नाटकीय लोक-विधाओं का उद्‌भव हुआ। साँप, कुत्ता, बंदर, भालू आदि को नचाने वाले एवं खेल दिखाकर पेट पालने वाले मदारी, बाजीगर, सँपेरा के हाव-भाव में अभिनेयता का गुण रहता है। पशु युद्ध, मल्ल युद्ध, गणिका नृत्य भी नाट्यकला के संयोजन के बिना पूरा नहीं हो सकता। रामलीला, रासलीला, नौटंकी, कठपुतली, बहुरूपिया, जट-जटनी, भाँड, चैता आदि इसके विकसित रूप हैं। इनमें आदिम प्रवृत्तियों की नाट्याभिव्यक्ति है, जो विशुद्ध मन-बहलाव के लिए खुली धरती और खुले आसमान के नीचे होता है। आज भी नुक्कड़ नाटक इसी प्रकार प्रदर्शित होते हैं। राजस्थान में 'ख्याल' और 'स्वाँग'; मालवा के 'माँच'; बंगाल के 'जात्रा' और 'गंभीरा'; महाराष्ट्र में 'तमाशा', 'गोंधल', 'ललित'; उत्तर प्रदेश में 'नौटंकी'; हिमाचल में 'करयाला' आदि लोकनाट्य रूप हैं। स्त्री लोकनाट्य के रूप में 'डोकमच', जिसे भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है, इसे 'डोमकछ', हिमाचल में 'नाच', हरियाणा-पश्चिमी उत्तर प्रदेश में 'खोरिया' या 'खोड़िया', ब्रजक्षेत्र में 'खोइया', बुंदेलखंड में 'बाबा बाई', अवधी में 'नकटौरा' या 'नकरा' और कन्नौजी में 'नकटो' कहते हैं। इसमें पुरुषों का वेश धारण करके औरतें स्वाँग करती हैं। जब वर पक्ष की ओर से बारात चली जाती है, उस रात खुले आँगन में यह संपन्न होता है। 'बहुरूपिया' में वाचिक अभिनय की बजाय वेशभूषा और आंगिक अभिनय द्वारा संवाद होता है। इसका उद्देश्य दरवाजे-दरवाजे जाकर लोगों का मनोरंजन करना है। 'जट-जटिन' में स्त्रियाँ गाते हुए नृत्य करती हैं, दोनों दलों के बीच गीतों में गुँथे संवादों से कथा आगे बढ़ती है। 'भाँड' के अंतर्गत दो भाँड खड़े होकर तत्परता तथा होशियारी दिखाते हुए तुकबंदी वाले संवाद से हँसाने का यत्न करते हैं। हिमाचल प्रदेश में 'करयाला' के अतिरिक्त 'बाँठड़ा', 'भगत', 'हरणात्तर', 'धाजा', 'बोरा', 'होरिड्-फो' आदि लोकनाट्य रूप काफी पहले से चलन में हैं। आदिवासी क्षेत्रों में 'लाहुल' और 'बुच्छेन' में गीत, संगीत, नृत्य और अभिनय का संयोग होता है। ये लोकनाटक उस पुराने समय की याद दिलाते हैं, जब जंगल, जंगली जीवों के साथ आदमी ज्यादा रहता था, जानवर ही उसके खाने-पीने से लेकर मन-बहलाव तक के साधन थे। राजस्थानी स्वाँग में सामान्यतः मुँह से कुछ न कहकर आंगिक अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। यथा, अक्षय तृतीया के अवसर पर बालिकाएँ वर-वधू बनने का स्वाँग करती हैं, जबकि होली-दीवाली के अगले दिन बालक स्त्रियों के कपड़े पहनकर स्वाँग करती हैं। राजस्थान में दामाद के आने पर महिलाएँ तरह-तरह की बोली दादी की, पिता की, बुआ की, जाट-जाटिणी की बोलकर मनोरंजन करती हैं। स्त्रियों का स्वाँग भी पुरुष ही करते है। रावलों की स्त्रियों के लिए यह 'रम्मत' देखना निषिद्ध है। 'नौटंकी', 'स्वाँग', 'ख्याल', 'नाच' सैकड़ों साल से चल रहे हैं। इसमें किसी आदर्श चरित्र और कुछएक में डाकुओं का चरित्रांकन होता है। प्रेम-शृंगार के अलावे धार्मिकता, भक्तिपरकता, लोकधर्मिता, खान-पान, वेशभूषा, स्थानीय जीवन की झलक और लोककलाओं का प्रदर्शन होता है, जहाँ गीत-संगीत और नृत्य कौशल के दर्शन होते हैं। नैतिक उत्थान और स्वस्थ मनोरंजन इनका चरम उद्देश्य है। इनके आरंभिक मंगलाचरण में शिव, गणेश, हनुमान, ब्रह्मा, विष्णु आदि का स्मरण किया जाता है। सज्जन महिमा और दुर्जन निंदा की जाती है। नायकों को अनेक स्थानों पर दैवी शक्तियों से सहायता मिलती है। पहले कुलीन घर के लोग इन्हें नहीं देखते थे; विशेषकर स्त्रियाँ इन्हें देखना पसंद नहीं करती थीं।

लोक जीवन के बदलते परिदृश्य में लोककथाएँ हाशिए पर पहुँच चुकी हैं, हालाँकि इनकी विशिष्टता यह है कि इन्हें आसानी से कहीं भी सुना-सुनाया जा सकता है; छोटे-से मंच की भी जरूरत नहीं होती और न ही साज-सज्जे की ही। बड़े-बूढ़ों से लेकर किसान, मजदूर, चरवाहे, स्त्री-पुरुष, बच्चे सब सहजता से वाचन-श्रवण के भागीदार बन जाते हैं। इसे किस्सा या खिस्सा भी कहते हैं। प्रकृति, जड़-चेतन पदार्थ, पशु-पक्षी, वनस्पति जगत, व्रत-त्योहार, देव-दानव, पुरा कथा इनके विषय होते हैं। इनमें प्रेम के उदात्त, विराट तथा निश्छल स्वरूप का निरूपण है। रिश्ते-नातों-संबधों के चित्रण में प्रेम, सुख एवं मंगल की कामना है, जहाँ खुलापन तो है, पर अश्लीलता का अभाव है। जिजीविषा और जीवटता के साथ जीना इन लोककथाओं का प्रयोजन है। लोकोक्तियों, लोकसुभाषितों, कहावतों, पहेलियों, मुहावरों में लोक दर्शन, लोक-नीति और लोक-व्यवहार का गहरा ज्ञान अंतस्थ है, जिसमें लोक जीवन की सजीव झाँकी मिलती है; बदलते परिवेश का प्रतिबिंब झलकता है। लोकवाणी के साथ सार्वभौमिक तत्वों का अनूठा संयोजन दर्शित होता है। इस प्रकार यह समाज एवं राष्ट्र ही नहीं, मानव मात्र का अंतरंग ज्ञानकोश है। एक तरफ शास्त्र-पुराण में जिनका कहीं कोई उल्लेख नहीं, उन मूल्यों-मान्यताओं को ये मजबूती से स्थापित करते हैं; दूसरी ओर, आप्त वचनों, शास्त्रीय कथनों, पौराणिक सुभाषितों को ठेठ देशी शैली में सहज-स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत कर ग्रहणीय बनाते हैं। ऐसे अनगिनत कथनों को जनश्रुति के तौर पर निपट-निरक्षर लोग भी न केवल जानते-समझते हैं, बल्कि सहज वृत्ति से उनका पालन भी करते हैं। ग्रामीण एवं आँचलिक लोक-रीतियों का वैविध्यपूर्ण सौंदर्य इनमें बिखरा पड़ा है; जीवन के हास्य, रुदन एवं गुदगुदी समाई हुई है, नीति-कथन बोलता हुआ, हरकत करता प्रतीत होता है। स्थानीय रंग-रंगतों से सराबोर किंवदंतियों-लोकोक्तियों में 'विविधता में एकता' का समायोजन होता है। हिंदी की जातीय पहचान, उसकी अस्मिता का भान होता है। उत्तर भारत के मौसम, जलवायु, ऋतु, जीव-जंतु, पशु-पक्षी, भूत-प्रेत, खान-पान, रहन-सहन, बात-व्यवहार, पहनावा, वर्ण-जाति व्यवस्था, लैंगिक संबंध, रिश्ते-संबंध, उम्र-वय, रोग-व्याधियों के लक्षण-उपचार, निषेध-वर्जना की नियमावली सहित चर-अचर पदार्थों से जुड़ी महत्त्वपूर्ण जानकारी कहावतों, पहेलियों से मिलती है।

हिंदी की हरएक बोली के लोक साहित्य का स्थानीय-क्षेत्रीय वैशिष्ट्य है और अंतर अनुशासनिक संबंधों के साथ हिंदी के संपूर्ण लोक साहित्य का सामान्य वैशिष्ट्य भी इनके समायोजन से निखरता है। जिस प्रकार बोलियों के क्षेत्रीय विस्तार की सीमा-रेखा एकदम पक्की नहीं होती, वह थोड़ी-थोड़ी भिन्नता के साथ व्यापक बनती जाती है; उसी प्रकार इसके लोक साहित्य में थोड़ी-थोड़ी भिन्नता एवं बदलाव के साथ व्यापक विस्तार होने पर अखिल भारतीय स्वरूप निर्मित होता है। फिर भी यह पड़ोसी भाषा-बोली के माध्यम से मूल या आधारभूत बोली से जुड़ी रहती है। हिंदी की बोलियों का लोक साहित्य में भारतीय जीवन मूल्य, परंपराएँ, मान्यताएँ गहरे में संपृक्त है। लोक जीवन से लोकशास्त्र का उद्‌गम हुआ है। लोक पहले है, शास्त्र बाद में। लोक-वृत्तियों में परिवर्तन के साथ कदमताल मिलाकर चलने और अपने लचीले रुख के कारण लोक साहित्य अपेक्षाकृत लोकभावना को अंगीकार करने में अधिक सक्षम सिद्ध हुआ। यह लोक से तब विच्छिन्न हुआ, जब आधुनिक विकास एवं नव्यतम शिक्षा प्रणाली के कारण शिष्ट साहित्य का प्रचलन बढ़ा। ज्ञान-विज्ञान की दिशा बदली, लोक साहित्य की महत्ता घटी और यह उपेक्षित होकर विलुप्त होने के कगार पर पहुँच गया। लोक साहित्य समाज से दूर, जीवन से विलग हुआ है तो इसका कारण है कि लोक के साथ इसका प्रवाह न केवल कम हुआ, वरन् नए परिप्रेक्ष्य में इसकी रचना भी रुक गई। बहरहाल, आज इस लोक साहित्य का अवलोकन अथवा रसास्वादन हो पाता है, तो इसके पीछे ऐसे तमाम प्रयासों की महती भूमिका है। लोक साहित्य ही सारे साहित्य का उत्स-मूल है। इसका रचयिता कोई भी रहा हो, पर वह लोक का ही प्राणी है। यह वेद की तरह ब्रह्मा जी के मुख से निःसृत नहीं माना जाता। यह अपनी अनगढ़ता में सनातनता के नैरंतर्य का स्थापक है। जो स्थान जड़-नींव का है, वही स्थान निचले स्तर के लोक का है और वही महत्ता शिष्ट कहे जाने वाले साहित्य के लिए लोक साहित्य की भी है। लोक साहित्य में व्यवहार पहले है और विचार-चिंतन बाद में; जबकि शिष्ट माने वाले साहित्य में विचार पहले होता है, व्यवहार एवं प्रयोग के लिए बाद में सोचा जाता है। परंपरागत जीवन का शायद ही कोई ऐसा आयाम हो, जिसका लोक साहित्य में प्राकाट्य न हुआ हो। लोक एक व्यापक परिधि है, तथापि लोक साहित्य के संदर्भ में यह परंपरा से संचालित उस क्षेत्रीय समाज का अवबोधक है, जिसकी एक विशिष्ट संस्कृति है, जिस पर आधुनिकता का प्रभाव देर से पड़ता है।

हिंदी लोक साहित्य के अथाह सागर में लौकिक जीवन के आचार-विचारों, दुरभि-संधियों, घात-प्रतिघातों का यथार्थ चित्रण आद्योपांत है। इस विरासत को ग्रामीण जनता ने तरह-तरह से अपनी बोलियों के माध्यम से सँजो रखा है, जहाँ फूल है तो शूल भी है, उपदेश है तो मनोरंजन भी है; हास्य-विनोद है तो शोक-गांभीर्य भी; नीति है तो प्रपंच भी है; छलावा है तो निश्छलता का उद्दाम आवेग भी है। कहीं सहज रूप में गहन अध्यात्म ज्ञान तथा शास्त्र-ज्ञान प्रकट हुआ है, तो कहीं एकदम छोटी बात बड़े रूपाकार में व्यक्त है; जहाँ लोक साहित्य के वैयक्तिक विलयन की सृजनात्मकता का प्रबल बल भी निदर्शित होता है। प्राकृतिक साहचर्य में नैसर्गिक मानवीयता के अविरल प्रवाह में युग-युग की चिंतना प्रस्फुटित हुई है; सामाजिकता, संस्कृति और आत्मीयता की निरंतरता स्थापित हुई है; बदलते जीवन मूल्यों का प्रतिबिंब झलकता है। चूँकि लोक साहित्य मनुष्य की उन आदिम प्रवृत्तियों, नैसर्गिक भावनाओं, जन्मजात गुणों, स्वाभाविक क्रिया-कलापों तथा मूलभूत बुनियादी तथ्यों की सरस प्रस्तुति है, जो नितांत अनगढ़-अकृत्रिम हैं और मानव-मात्र की सहजात निशानियाँ हैं; अतः इनकी उपस्थिति के कारण विश्वजनीन तत्वों के साथ सार्वभौमिक चेतना की संपृक्ति भी स्वतः ही हो जाती है। लोक साहित्य लोक का, लोक के लिए, लोक के बारे में मौखिक सैद्धांतिकी है; किंतु अलोक और अलौकिक दुनियाँ भी लोक साहित्य से बाहर नहीं है। वस्तुतः जिसे अलोक और अलौकिक कहा जाता है, वह बृहत्तर लोक ही है। लोक इंद्रियगोचर संसार तक ही सीमित नहीं, अपितु अदृश्य निस्सीम तक विस्तीर्ण है। दृश्यमान लोक इसी अप्रत्यक्ष लोक का हिस्सा है। जो दिखता तो नहीं, पर अस्तित्व में है, उसी के अनुरूप इसका संचालन होता है। इसे ब्रह्मांडीय प्रकृति के अनुरूप स्वतः संचालित भी कहा जाता है, जबकि आस्तिक-आस्थावादी दृष्टिकोण से अलौकिक शक्ति अथवा ईश्वर द्वारा पालित, पोषित और नियंत्रित माना जाता है। अलौकिक का पर्याय पारलौकिक भी है, जिसका अर्थ है दूसरे लोक का। स्वर्ग हो या नरक लोक; पर वह दृश्यमान लोक कदापि नहीं होता। ईश्वर, ब्रह्मांड, जगत, प्रकृति, आत्मा-परमात्मा, जीव, माया आदि लोक-अलोक को जोड़ने वाले अंतःसूत्र हैं।

इहलौकिक संवेदना का मुख्य बिंदु नारी जीवन, पलायन तथा प्रवासी की वेदना और सनातन संस्कारों से संबद्धता है। प्रकृति और उसके साहचर्य में चर-अचर पदार्थों का न केवल मानवीकरण हुआ है, वरन् उन्हें देवत्व प्रदान कर पूजनीय स्थान दिया गया है। लोक जीवन में जो पदार्थ जितना उपयोगी है, उसे उतना ही सम्मान प्राप्त है। अग्नि, जल, वायु, सूर्य, नदी, पहाड़, पेड़-पौधे, जीव-जंतु आदि देव-देवी रूप में प्रतिष्ठित हैं। पर्यावरण की चिंता लोक साहित्य में प्रत्येक स्तर पर है, जो चराचर जगत से एकात्म भाव स्थापित करके भारतीयता के इहलौकिक पक्ष को लोकोत्तर की ओर उन्मुख करती है। जीव-जंतु तथा पशु-पक्षियों द्वारा मनुष्य की सहायता के उदाहरण मिलते हैं। अनेक ऐसे स्थानीय देवी-देवता के प्रति इष्ट भाव है, जिनका कहीं कोई शास्त्र-पुराण में उल्लेख नहीं मिलता। जातिवाद, दहेज, महँगाई, नशाखोरी जैसी कुरूढ़ियों-चुनौतियों से मुक्ति की आकांक्षा का स्वर मुखर है। प्रवास-पलायन के संघर्ष, दर्द और पीड़ा की अभिव्यक्ति पूरबी गीतों में है। शृंगार-सौंदर्य और वीरता-ओजस्विता की वाणी भारतीय लोक की मूल प्रतिध्वनि है। आत्मा की अमरता और जीवन की निस्संगता व निस्सारता का भाव परिव्याप्त है। कठिन ज्ञान मार्ग की बजाय एकदम सहज तरीके से अलौकिक मान्यताओं की स्थापना है। सुदूर गाँवों-कस्बों में आज भी लोग खेतों-बगीचों के बीच अकेले में गाय-भैंस चराते हुए गीत, गाथाओं को जोर-जोर से गाते हैं। वहाँ सुनने वाला कोई मनुष्य नहीं होता, पर आवाज ऊँची होती है। यह तन्मयता शायद ही अन्यत्र देखने को मिलती हो। वस्तुतः यह प्रकृति और 'अलोक' अथवा लोकोत्तर से संवाद का सशक्त माध्यम सिद्ध होता है। लोक साहित्य गूढ़ विचारणाओं एवं रहस्यों को भी सरलता तथा रसमयता से न केवल प्रस्तुत करता है, वरन् उसे हृदयंगम भी करा देता है। लोक साहित्य के कारण लोग अनायास भी धर्म और भक्ति में तल्लीन हो जाया करते हैं। सनातनी परंपरा लोक की अस्मिता से सन्नद्ध है, उतनी ही अदृश्य लोक के अस्तित्व को भी स्वीकारती है। इसलिए इसमें जितनी प्रत्यक्ष की स्थिति है, उतनी ही परोक्ष की भी उपस्थिति है।